

सिमरन

भाग - १३

प्राकृतिक नियमों अनुसार रची गयी 'माया' तथा इसके 'भ्रम-भुलाव' में गलतान होकर जीव अपने कर्ता 'अकाल-पुरुष' को भुला देता है, तथा 'मायकी पदार्थों' में ही खोया हुआ अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ नष्ट कर लेता है।

दाति पिआरी विसरिआ दातारा ॥ (पृ. ६७६)

एह माइआ जितु हरि विसरै मोहु उपजै भाउ दूजा लाइआ ॥
(पृ. ९२१)

इन्हि माइआ जगदीस गुसाई तुम्हरे चरन बिसारे ॥
किंचत प्रीति न उपजै जन कउ जन कहा करहि बेचारे ॥
(पृ. ८५७)

'माया' के इस भ्रम-भुलाव में से निकालने के लिए आदि से ही अकाल-पुरुष ने अपने गुरुमुख-प्यारे, संत, भक्त, गुरु, अवतार आदि इस संसार में भेजे, जिन्होंने मायकी भ्रम में भटके हुए जीवों को 'आत्म-जीवन' का मार्गदर्शन दिया। कलयुग के इस घोर अन्धकार में सतगुरु ने 'गुरबाणी' द्वारा 'आत्म-तत्त्व ज्ञान' का 'प्रकाश', मानवता को प्रदान किया जिसकी अनुभवी रोशनी में जिज्ञासु सही आत्म-मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल कर सकता है।

परन्तु खेद की बात है कि इस आत्म 'प्रकाश स्तम्भ' अर्थात् 'गुरबाणी' को —

पढ़ते

सुनते

विचार करते

कथा-वार्ता करते

दिमागी ज्ञान घोटते

वाद-विवाद करते

प्रचार करते

—हुए भी हम गुरबाणी के आन्तरिक भावों अथवा आत्मिक-तत्त्व-ज्ञान या 'नाम' के निजी अनुभवी तजुरबे से वंचित हैं।

इसका कारण यह है कि गुरबाणी 'आत्म-मंडल' से आई है और हमारा मन अभी थोथे, बाहरमुखी 'कर्म-काण्ड' में फँसा हुआ है तथा गुरबाणी के आन्तरिक, गुप्त, सूक्ष्म आत्म भावों से अनजान एवं बेपरवाह है।

करम धरम जुगति बहु करता करणैहारु न जानै ॥

उपदेसु करै आपि न कमावै ततु सबदु न पछानै ॥ (पृ ३८०)

ना हरि भजिओ न गुर जनु सेविओ नह उपजिओ कछु गिआना ॥

घट ही माहि निरंजनु तेरै तै खोजत उदिआना ॥ (पृ ६३२)

गुरबाणी पढ़-सुन-गा कर तथा कथा-वार्ता करने में ही हम 'सन्तुष्ट' हैं। इन गुरु उपदेशों का 'पालन' करने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता या रुचि ही नहीं बनती, क्योंकि हम समझते हैं कि गुरबाणी की यह पक्तियाँ ज्ञानियों या धार्मिक मार्गदर्शकों के लिए लिखी गयी होंगी! हम पर तो यह लागू नहीं होती, हम तो गृहस्थी हैं !!

यही कारण है कि माया के 'अथाह भवसागर' में गोते खाते हुए भी, हमें इस में से निकलने के लिए 'गुरु-उपदेश' अनुसार 'सिमरन' अथवा शब्द-अभ्यास करने की —

आवश्यकता नहीं प्रतीत होती,
रुचि नहीं पैदा होती,
साहस ही नहीं होता,
फुर्सत नहीं मिलती,
उद्यम तो क्या करना था !

इस विषय में गुरबाणी हमें इस प्रकार ताड़ना करती है —

पलचि पलचि सगली मुई झूठै धंधै मोहु ॥ (पृ. १३३)

नाम संगि मनि प्रीति न लावै ॥

कोटि करम करतो नरकि जावै ॥ (पृ. २४०)

कूर क्रिआ उरझिओ सभही जग

सी भगवान का भेदु न पाइओ ॥ (सवैये पा. १०)

गुरबाणी रूपी आत्म प्रकाश-स्तंभ अथवा 'अनुभवी-तत्त्व ज्ञान' पर —

विचार करने,

बूझने,

सीझने,

पहचानने,

आनन्द लेने,

— के लिए हमें अन्तर्मुखी होकर 'सिमरन' करने की विधि सीखनी पड़ेगी !

इह बाणी जो जीअहु जाणै तिसु अंतरि रवै हरि नामा ॥

(पृ. ७९७)

परन्तु हमें 'परमार्थ' अथवा 'आत्म-मार्ग' पर चलते हुए शब्द-अभ्यास अथवा 'सिमरन' में विघ्न डालने वाले कारणों की सही पहचान तथा विचार करने की अति आवश्यकता है, ताकि हम इन हानिकारक कारणों से 'संकोच तथा बचाव', अथवा 'परहेज़' कर सकें।

कुसंगत :-

पाँच दूतों — काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के अधीन तथा इनकी गुलामी में हम 'अनेक' तुच्छ रुचियों की 'कुसंगति' करते हैं, जिस कारण हम बीती हुई घटनाओं तथा भविष्य की व्यर्थ 'मानसिक उड़ानों' में ही हमेशा व्यस्त रहते हैं।

इन पंचन मेरो मनु जु बिगारिओ ॥

पलु पलु हरि जी ते अंतरु पारिओ ॥ (पृ ७१०)

कहत कबीर पंच को झगरा झगरत जनमु गवाइआ ॥

(पृ ४८२)

'अज्ञानता वश' पाँच दूतों के प्रभाव अधीन हम सोचते हैं, योजनाएं बनाते हैं, मेल-मिलाप बढ़ाते हैं तथा कर्म करते हैं जिनका परिणाम हमें अवश्य भोगना पड़ता है। जब स्वयं किये कर्मों के परिणाम से हम घबराते हैं, तब इनका दोष —

अन्य लोगों पर लगाते हैं

भाग्य को दोष दोते हैं

भगवान से शिकायत करते हैं

परन्तु गुरबाणी हमें स्पष्ट शब्दों में ताड़ना करती है —

जो मै कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना ॥

(पृ ४३३)

जेहा बीजै सो लुगै करमा संदड़ा खेतु ॥

(पृ १३४)

यदि हमें गुरबाणी की इन पंक्तियों पर विश्वास हो जाये कि हमने अपना किया ही पाना है, तब हम 'तुच्छ विचारों के अधीन' कर्म करते समय 'विवेक बुद्धि' की विचार द्वारा इस कुसंगति तथा इसके बुरे कर्मों से बच सकते हैं ।

गुरबाणी अनुसार 'जीव' का मनमुख होना या गुरुमुख बनना उसकी बुरी या उत्तम —

'संगत' या मेल-मिलाप

— पर निर्भर करता है।

जो जैसी संगति मिलै सो तैसो फलु खाइ ॥ (पृ. १३६९)

संग सुभाउ असाध साध पापु पुंनु दुरुवु सुखु फलु पावै ।

(वा. भा. गु. ३१/१३)

सोई तांबा रंग संगि जिउ कैहा होई ।

सोई तांबा जसत मिलि पितल अवलोई ।

सोई सीसे संगती भंगार भलोई ।

तांबा पारसि परसिआ होइ कंचन सोई ।

सोई तांबा भसम होइ अउरवध करि भोई ।

आपे आपि वरतदा संगति गुण गोई । (वा. भा. गु. २/६)

दूसरे शब्दों में, 'आत्म-मार्ग' पर चलने के लिए —

पवित्र पावन, उत्तम, दैवीय संगत

ही सर्वाधिक प्रभावशाली तथा कारगर मूल 'साधन' है ।

व्यक्तियों तथा किताबों की बाहरमुखी मानसिक 'कुसंगत' का प्रभाव उनके ठीक विपरीत, उत्तम तथा दैवीय संगत करने से कम हो सकता है, परन्तु हमारे अन्तःकरण में धँस-वस-रस कर, प्रबल हुई जहरीली 'रंगत' हमारे बाहरमुखी कर्म, पाठ-पुजा, ज्ञान-ध्यान तथा कर्म-धर्म पर हावी हो जाती है ।

इस लिए देखा गया है कि कई बार भले, भद्र एवं धर्मी पुरुष अपने अन्तःकरण में, एकत्रित हुई तुच्छ रुचियों के प्रबल प्रभाव अधीन नीच तथा अनुचित कृकर्म कर बैठते हैं।

अन्तःकरण की इस गुप्त मैल को धोने के लिए गुरु साहिब ने कलियुगी जीवों के लिए एक मात्र कमाल की विधि बतायी है —

भरीये मति पापा कै संगि ॥

ओहु धोपै नावै कै रंगि ॥ (पृ. ४)

गुरू साहिब ने इस 'नाम के रंग' — 'हरि रस की हाट' (दुकान) का वर्णन बार-बार करते हुए हमें दृढ़ करवाया है —

हरि रस की कीमति कही न जाइ ॥

हरि रसु साधू हाटि समाइ ॥ (पृ. ३७७)

प्रभ का सिमरनु साध कै संगि ॥

सरब निधान नानक हरि रंगि ॥ (पृ. २६२)

साध-संगति अथवा 'गुरू-प्यार' के व्यापारियों की मंडली में सिमरन द्वारा इस 'सौंच वखर' अथवा 'नाम' का व्यापार करना है।

में-मेरी :-

अज्ञानता के कारण जीव 'में-मेरी' के व्यर्थ निजि मामलों में ही उलझा रहता है तथा फालतू के चिंता-फिकर में डूबा रहता है। 'अपने तथा अपनों के' शारीरिक एवं मानसिक मायकी-प्रपंच हमने इतने बढ़ाये हुए हैं कि इन्हें निपटने में ही सारा समय गुजर जाता है, फिर भी ये मायकी समस्याएँ निपटती ही नहीं — क्योंकि यदि एक समस्या हल होती है, तो कई अन्य नई खड़ी हो जाती हैं।

धंधा धावत दिनु गइआ रैणि गवाई सोइ ॥

कडू बोलि बिखु स्वाइआ मनमुखि चलिआ रोइ ॥ (पृ. ९४८)

धंधा करतिआ निहफलु जनमु गवाइआ
सुखदाता मनि न वसाइआ ॥ (पृ. ६४४)

इहु मनु लालच करदा फिरै लालचि लागा जाइ ॥
धंधै कूड़ि विआपिआ जम पुरि चोटा खाइ ॥ (पृ. ९९४)

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै पालिओ बहुतु कुटंबु ॥
धंधा करता रहि गइआ भाई रहिआ न बंधु ॥ (पृ. १३७०)

साथ ही हम 'दुसरो के झमेलों' में खाह-म-खाह दरवल-अंदाजी करते हैं तथा वाद-विवाद में पड़कर अपना मन मलिन करते रहते हैं।

परन्तु गुरबाणी हमें सच्चा तथा सादा 'गृहस्थ जीवन' व्यतीत करते हुए 'अलिप्त रहने' का उत्तम उपदेश देती है —

साचि नामि मेरा मनु लागा ॥

लोगन सिउ मेरा ठाठा बागा ॥१॥

बाहरि सूतु सगल सिउ मउला ॥

अलिपतु रहउ जैसे जल महि कउला ॥१॥ रहाउ ॥

मुख की बात सगल सिउ करता ॥

जीअ संगि प्रभु अपुना धरता ॥२॥

तुच्छ फजूल बातें :-

'कचची लस्सी' की भांति हम बात का बतंगड़ बना लेते हैं तथा इसी में अपना अमूल्य समय नष्ट करते रहते हैं। सति-संगति में भी देखा जाता है कि कई जिज्ञासु नाम-बाणी का लाभ उठाने की जगह, टोलियाँ बनाकर पार्टी-बाजी के वाद-विवाद में उलझे रहते हैं। वकीलों तथा जजों की भांति ये गुरू की उपस्थिति में भी अपनी कचहरी लगाये रखते हैं !

दूसरी ओर स्त्रियाँ भी सरवी-सहेलियों के साथ अपनी-अपनी बिमारियाँ, कपड़े, जेवर, घरेलू मामलों तथा निन्दा-चुगली की खिचड़ी पकाती रहती हैं!

फिजूल वाद-विवाद में हम लोगों की व्यर्थ निन्दा करते हैं तथा अपना **मन मैला करते हैं**। गुरबाणी हमें उपदेश देती है —

निंदा भली किसै की नाही मनमुख मुगध करनि ॥ (पृ ७५५)

बोलत बोलत बढहि बिकारा ॥

बिनु बोले किआ करहि बीचारा ॥ (पृ ८७०)

बहुता बोलणु झरवणु होइ ॥

बिणु बोले जाणै सभु सोइ ॥ (पृ ६६१)

मन की ऐसी **मायकी मानसिक दशा में सिमरन** करने की **रुचि उत्पन्न होनी असम्भव है**। 'सिमरन' करने के लिए तो आवश्यकता अनुसार **मतलब की बात** करनी ही उचित है।

'श्रीमान खाह-म-खाह' या 'बिनु बुलायी तायी' बनने से संकोच करना चाहिए। गुरबाणी का उपदेश है —

नाम बिना सभि कडू गाल्ही होछीआ ॥ (पृ ७६१)

मानसिक तथा शारीरिक रोग :-

हमारी मानसिक तथा शारीरिक बीमारियाँ भी 'सिमरन' में **विघ्न का बड़ा कारण हैं**।

अकाल पुरुष ने मनुष्य का **शरीर अलौकिक तथा सूक्ष्म नियमों पर बनाया है**, जिसको 'हुकम' कहा गया है तथा जो हमारी अर्न्तःत्मा में **साथ लिखा हुआ है**।

जब हम इस साथ लिखे इलाही 'हुकम' से 'बेसुर' (out-of-tune) हो जाते हैं, तब हमारे अन्दर की **शारीरिक मशीनरी** की चाल में **विघ्न पड़ जाता है**।

इस स्वयं-आमंत्रित 'विघ्न' को ही बीमारी कहा जाता है।

उदाहरणतया किसी मशीन का कोई पुर्जा ढीला हो जाये, तब वह मशीन काम नहीं करती। इसको अंग्रेजी में out-of-order कहा जाता है।

इसी प्रकार जब हम जान बूझ कर या अज्ञानता में अपने 'साथ-लिखे हुकम' का उल्लंघन करते हैं, तब उसका परिणाम बीमारी के रूप में हमें अवश्य भोगना पड़ता है।

कहा जाता है कि पहले मन बीमार होता है, जिसका प्रतिबिम्ब 'शरीर' पर पड़ना अनिवार्य है। उदाहरणतया, निर्बल मन के प्रभाव में जब इन्सान शराब, दारू, अन्य नशे या रसना के स्वाद तथा चेष्टा के लिए हानिकारक पदार्थों का सेवन करता है, तब उसे उसका परिणाम शरीर की बीमारी के रूप में अवश्य भोगना पड़ता है।

यह बात तो सब के अनुभव में आती है कि शारीरिक बीमारी हमारे 'सिंमरन' में अत्यन्त विघ्न डालती है अपितु बीमारी की दशा में तो 'सिंमरन' होना असम्भव ही है क्योंकि मरीज का ध्यान उसकी बीमारी में ही लगा रहता है। वह सदा अपने कष्टों तथा तकलीफों की चर्चा व शिकायतें ही करता है।

मरीज ने खुद तो दुख भोगना ही है, वह सेवा-सश्रुषा करने वालों को भी चिंता फिकर में 'सूली पर टांगे रखता है'। इसलिए गुरबाणी में हमें शारीरिक तथा मानसिक दोनों बीमारियों के पक्के इलाज के लिए नीचे लिखी विधियाँ बतायी गयी है —

फरीदा बुरे दा भला करि गुसा मनि न हढाइ ॥

देही रोगु न लगई पलै सभु किछु पाइ ॥ (पृ. १३८१-८२)

करि इसनानु सिंमरि प्रभु अपना मन तन भए अरोगा ॥

(पृ. ६११)

हरि अंश्रित नामु भोजनु नित भुंचहु सरब वेला मुखि पावहु ॥

जरा मरा तापु सभु नाठा गुण गोबिंद नित गावहु ॥

(पृ. ६११)

परन्तु हम गुरबाणी के इन उपदेशों को खँटे पर टाँग कर मन की तुच्छ रुचियों के गुलाम बन जाते हैं तथा मानसिक एवं शारीरिक रोगी बने रहते हैं।

ऍलरजी (allergy) :—

बाहर के दुश्मन का तो मुकाबला हो सकता है, परन्तु अन्तःकरण (sub-conscious) में छुपे गुप्त दुश्मन-‘ऍलरजी’ (allergy) से बचाव असम्भव है। हम जो कुछ भी सोचते हैं या कर्म करते हैं, उसकी ‘रंगत’ हमारे अन्तःकरण पर चढ़ती जाती है। तीव्र ख्यालों की तीक्ष्ण रंगत शीघ्र ही अन्तःकरण में उत्तर जाती है, जिसका असर बहुत ही गहरा तथा घातक होता है।

इस प्रकार तुच्छ, गन्दी एवं जहरीली रुचियों को अपने अन्तःकरण में जमा करने के लिए हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं।

हमारे हृदय रूपी आंगन में हमारे गुरू अथवा परमेश्वर का स्थान है। हम उसी आँगन में गंदा जहरीला ‘कूड़ा-करकट’ जमा करते रहते हैं। इस प्रकार गन्दगी फैलाकर अपने गुरू साहिब का अपमान करते हैं।

जब भी हम किसी ऐसे प्राणी को याद करते हैं, जिससे हमें ‘ऍलरजी’ या ‘घृणा’ हो, तब हम अपने अन्दर की गन्दगी को छोड़कर दुर्गन्ध फैला देते हैं। इससे हमारे मन में नफरत पैदा होती है तथा हम ‘नाक चढ़ा कर’ अपनी नफरत तथा क्रोध प्रकट करते हैं। इस ‘ऍलरजी’ की आग से हमारा मन-तन जन-भुज जाता है तथा इससे हमारे किये कर्म-धर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं।

यही कारण है कि इतने पाठ पूजा, कर्म-क्रिया करते हुए भी हम अपने जीवन में रूखे-सूखे, ईर्ष्या-द्वेष तथा वैर-विरोध में गलतान रहते हैं।

बाहरी मानसिक मैल या ग्लानि तो मौत के बाद समाप्त हो जाती है, परन्तु अन्तःकरण की जहरीली रंगत जीव की शारीरिक मौत के बाद भी उसके साथ ही जाती है —

जनम जनम की इसु मन कउ मलु लागी काला होआ सिआहु ॥
खंनली धोती उजली न होवई जे सउ धोवणि पाहु ॥
(पृ. ६५१)

ऐसे ग्लानि वाले मन में 'सिमरन' का चाव, रीझ या रूचि उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

'ऐलरजी' की तुच्छ भावना अपने-आप में ही अत्यन्त जहरीली है, जो हमारे मन-तन-चित्त-बुद्धि को गुप्त मानसिक अग्नि से जला देती है —

गूझी भाहि जले संसारा भगत न बिआपै माइआ ॥ (पृ. ६७३)
इस दशा की तुलना सर्प के जीवन से की गयी है —

बिनु सिमरन जो जीवनु बलना सरप जैसे अरजारी ॥
(पृ. ७१२)

बिनु सिमरन जैसे सरप आरजारी ॥
तिउ जीवहि साकत नामु बिसारी ॥ (पृ. २३९)

धार्मिक कट्टरता :—

यदि कभी इस मानसिक अग्नि 'ऐलरजी' को धार्मिक कट्टरता का 'जहर' चढ़ जाये तो भगवान बचाये !

धार्मिक कट्टरता से हमारी 'ऐलरजी' का जहर कई गुना तीव्र हो जाता है, जो हमारे 'आपे' (self) को जलाकर राख कर देता है।

इस 'धार्मिक कट्टरता' के जहरीले प्रभाव अधीन अत्यन्त वैर-विरोध तथा जुल्म पहले भी किये गये हैं तथा अब भी हो रहे हैं। **अनेक धर्म** तथा **समुदाय** इस आग की लपेट में आ जाते हैं।

चारि वरन चारि मजहबा जग विचि हिंदू मुसलमाणे ।
खुदी बरवीलि तकबरी खिंचोताण करेनि पिड़ाणे ।
राम रहीम कहाइदे इकु नामु दुइ राह भुलाणे ।
बेद कतेब भुलाइ कै मोहे लालच दुनी सैताणे ।
सचु किनारे रहि गिआ खहि मरदे बाम्हणि मउलाणे ।

(वा. भा. गु १/१२)

धार्मिक कट्टरता की 'एँलरजी' वाले हृदय में **नफरत, जलन, वैर-विरोध के इलावा** और कुछ उत्पन्न ही नहीं हो सकता ।

ऐसे हृदय में **'सिमरन' करने की भावना या रुचि पैदा होनी असंभव है!!**

इसलिए गुरबाणी हमें इस विषय में इस प्रकार उपदेश देती है —

पर का बुरा न राखहु चीत ॥
तुम कउ दुखु नही भाई मीत ॥ (पृ ३८६)
जे तउ पिरीआ दी सिक हिआउ न ठाहे कही दा ॥
(पृ १३८४)

ववा वैरु न करीऐ काहू॥
घट घट अंतरि ब्रहम समाहू ॥ (पृ २५९)
ना को बैरी नही बिगाना
सगल संगि हम कउ बनि आई ॥ (पृ १२९९)

'गुरुमुखि वैर विरोध गवावै' वाला हमारा व्यवहार होना चाहिए ।

परन्तु दैनिक जीवन में हमारा व्यवहार इसके ठीक विपरीत होता है,
जिस कारण —

— सत्संग में जाने की रुचि ही नहीं बनती ।

— यदि जाते भी हैं तो दिखावा करके समय ही व्यतीत करते हैं।

— यदि बैठे भी रहते हैं, तो सत्संग की उच्च पवित्र भावनाओं
का लाभ नहीं उठा पाते ।

— ‘सिमरन’ करने की रुचि या चाव पैदा नहीं होता ।

सचा साहु सचे वणजारे ओथै कूड़े ना टिंकनि ॥

ओना सचु न भावई दुख ही माहि पचनि ॥ (पृ. ७५६)

कबीर पापी भगति न भावई हरि पूजा न सुहाइ ॥

मारवी चंदनु परहरै जह बिगंध तह जाइ ॥ (पृ. १३६८)

जिन के चित कठोर हहि से बहहि न सतिगुर पासि ॥

ओथै सचु वरतदा कूड़िआरा चित उदासि ॥

ओइ वलु छलु करि झति कढदे

फिरि जाइ बहहि कूड़िआरा पासि ॥

विचि सचे कूडु न गडई मनि केरवहु को निरजासि ॥

(पृ. ३१४)

परन्तु गुरबाणी अनुसार हमें साध संगत में ‘सिमरन’ करने का
ताकीदी हुकम है—

अवरि काज तेरै कितै न काम ॥

मिलु साधसंगति भजु केवल नाम ॥ (पृ. १२)

हरि कीरति साधसंगति है सिरि करमन कै करमा ॥ (पृ. ६४२)

करि साधसंगति सिमरु माधो होहि पतित पुनीत ॥ (पृ. ६३१)

जीति जनमु इहु रतनु अमोलकु साधसंगति जपि इक खिना ॥

(पृ. २१०)

तुच्छ मनोरंजन :—

हम स्वयं-आमन्त्रित मायकी समस्याओं की चिन्ता-फिकर को भुलाने के लिए या मानसिक तुच्छ रुचियों की पूर्ति के लिए कई प्रकार के मनोरंजन अथवा मन-बहलाने के साधनों का सहारा लेते हैं, जैसे —

गन्दे उपन्यास पढ़ने

सिनेमा

टी.वी., वीडियो, आदि

नाच-मुजरे

ताश-दारू चौकड़ियाँ

गप-शप महफिल, आदि ।

हमारा मन पहले ही मैला होता है। इन तुच्छ तथा हानिकारक मनोरंजन के साधनों से और अधिक मैला हो जाता है।

ऐसे तुच्छ तथा गन्दे मनोरंजन के प्रभाव अधीन 'सिमरन' हो ही नहीं सकता तथा न ही 'सिमरन' करने की रुचि बन सकती है। अपितु इन के कारण हम रसातल की ओर बहते जाते हैं तथा परमेश्वर को भूल जाते हैं। ऐसी दशा में मन में —

तुच्छ रव्याल

तुच्छ रुचियाँ

तुच्छ इच्छाएँ

तुच्छ भावनाएँ

तुच्छ आशा-तृष्णा

तुच्छ स्वभाव

तुच्छ कर्माँ

का उत्पन्न होना अनिवार्य है।

हमारी मलिन तुच्छ रुचियों के अनुसार मनोरंजन के तुच्छ साधनों में भी तेजी से बढ़ोतरी हो रही है।

हमारे यह तुच्छ मनोरंजन नयी पीढ़ी के लिए तो अत्यन्त ही घातक हैं।

परन्तु गुरबाणी हमें समझाती है तथा ताड़ना करती है-

हरि रसु पीवै अलमसतु मतवारा ॥

आन रसा सभि होछे रे ॥ (पृ ३७७)

जालउ ऐसी रीति जितु मै पिआरा वीसरे ॥

नानक साई भली परीति जितु साहिब सेती पति रहै ॥

(पृ ५९०)

वास्तव में हमारे 'मन' को हरे अंगूरों की भाँति मजेदार, स्वादिष्ट 'चाट' चाहिए, जिसका रस पीकर वह 'अलमस्त मतवारा' हो सके। जब तक उसे कोई उत्तम सुन्दर 'दैवीय चाट' नहीं मिलती, तब तक इसका तुच्छ रस-कसों या 'मनोरंजन' के साधनों में गलतान होना अनिवार्य है —

आन रसा जेते तै चारखे ॥ निमख न त्रिसना तेरी लाथे ॥

हरि रस का तू चारखहि सादु ॥ चारखत होइ रहहि बिसमादु ॥

(पृ १८०)

इह रस छाडे उह रसु आवा ॥

उह रसु पीआ इह रसु नही भावा ॥

(पृ ३४२)

इस लिए तुच्छ रस-कसों की चाट पर लुभित हुए मन को किसी उच्च पवित्र 'प्रीत-प्रेम-रस-चाव' अथवा नाम के — 'महा रस' की ओर प्रेरित करने के लिए गुरबाणी एक मात्र कारगर साधन 'साधसंगति' ही बताती है, जहाँ से हम आत्मिक सीध लेकर 'सिमरन' द्वारा अपने जीवन को 'पल्टा' सकते हैं।

- करि साधसंगति सिमरु माधो होहि पतित पुनीत ॥ (पृ ६३१)
- संता संगति मिलि रहै ता सचि लगै पिआरु ॥ (पृ ७५६)
- ऊठत बैठत हरि भजहु साधू सग्नि परीति ॥
- नानक दुरमति छुटि गई पारब्रह्म बसे चीति ॥ (पृ २९७)
- साधसग्नि होइ निरमला नानक प्रभ कै रग्नि ॥ (पृ २९७)
- साधसग्नि मलु लाथी ॥ पारब्रह्म भइओ साथी ॥ (पृ ६२५)
- झालाघे उठि नामु जपि निसि बासुर आराधि ॥
- काहरा तुझै न बिआपई नानक मिटै उपाधि ॥ (पृ २५५)
- गई गिलानि साध कै संगि ॥ मनु तनु रातो हरि कै रंगि ॥ (पृ ८९२)

— क्रमशः